कथा विमर्श के समकालीन संदर्भ

अरविंद कुमार

कथा विमर्श के समकालीन संदर्भ

अरविन्द कुमार

अनुक्रम

विमर्श

कथा विमर्श के समकालीन सन्दर्भ	4
समकालीन हिंदी कहानी का नया यथार्थ	16
समकालीन हिंदी कहानी की चिंता और आज का समय	36
समकालीन हिंदी कहानी: नयी ज़मीन की तलाश	48
समकालीन हिंदी कहानी का चेहरा अमूर्त नहीं है	56
सातवें-आठवें दशक का हिंदी सिनेमा: सामाजिक बदलाव के कुछ सवाल	65

मूल्यांकन

एक इतिहास नयी सुबह का	75
खुशहाली के रास्ते की ओर बढ़ते पैरों के निशान	83
सर्द हवाओं के बीच भी लोग जिंदा हैं	96
अंगना की ओर नहीं लौट पाने का दर्द	105
ज़मीन के सच की कहानियां	115
यूँ ही आखिर कब तक	122
मदन मोहन की कहानियां: सत्य का एक नया रूपांतरण	131
पंकज बिष्ट की कहानियां: बहुरेखीय उत्कर्ष का फलक	141
अंतहीन सन्नाटे में सृष्टि बीज की तलाश	163
खली कुंभ में जीवन जल की दस्तक	172
गन्दगी के बीच ज़िन्दगी की कहानियां	178
सूर्य किरणों को सहेजती ऊर्जा की कहानियां	188

नकबेसर और अरमानों की खिड़की 201

विस्थापन, जिजीविषा और भविष्य 210

चिनुआ अचेबे : जीवन की जद्दोजहद के कथाकार 221

'अमेरिकन' : इतिहासपरकता का एक सजीव आख्यान 231

परिशिष्ट

हिंदी समाज के बीच पृथकतावाद का यह बिगुल क्यों? 242

कथा विमर्श के समकालीन सन्दर्भ

आरा की एक कथा-गोष्ठी में विजेन्द्र अनिल ने कहा था कि 'आज सबसे बड़ी चुनौती है सम्पूर्ण यथार्थ को कहानियों में उतारना। कुछ लोग पीछे लौटने की बात कर रहे हैं, मिथकों की ओर जाने की बात पर सबसे बड़ी बात यह है कि हम किसके लिए लिखें ? उसके लिए जो विशिष्ट पाठक वर्ग है या हम जिस समाज में रह रहे हैं, उसके लोगों को लेकर ? हम यथार्थ को काट–छांटकर प्रस्तुत करें या उसके असली रूप में ?... और उन्होंने लेखकों के लिए कुछ कार्यभार भी नियत कर दिए थे 'हमारे लेखकों को आम जनता से गहराई से जुड़ना होगा तभी हमारी कहानियों की विश्वसनीयता कायम हो सकेगी। जबकि स्थिति आज यह है कि जिस इलाके या गांव का लेखक होता है, वहां के लोग भी उसे नहीं पहचान पाते।'... और इसी गोष्ठी में पत्रिकाओं की भूमिका पर सवाल उठाते हुए उन्होंने 'हंस' की अधिकांश कहानियों को गीतांजलिश्री की उपाधि दे डाली थी। यदि देखा जाय तो ऐसा इसलिए था क्योंकि हमारे बीच की कई पत्रिकाएं प्रगतिशीलता और जनवाद के नाम पर फूहड़ और अश्लील कहानियां परोस रही थीं तथा उनमें समाज विशेष की कठिनाइयों को लेकर कोई विमर्श नहीं था। इसके ठीक विपरीत ऐसी पत्रिकाएं भी थीं जो समय और समाज की दहलीज पर खड़ी होकर निरंतर दस्तक दे रही थीं।

दरअसल सार्थक विमर्श की जो शुरूआत छोटी पत्रिकाओं से हुई थी जहां पत्रिकाओं ने अपने विमर्श में खेतिहर मजदूर, श्रमिक या युवाओं की समस्याओं को उठाया था, परवर्ती पत्रिकाओं में यह विमर्श या तो स्त्री या दलित की ओर मुड़ता गया या नये-नये प्रयोगों के साथ नई पीढ़ी को जोड़ने और उसकी तकदीर बदलने में लगा रहा। कालान्तर में विमर्श की मुख्यधारा भी यही बन गया। सारी छोटी-बड़ी पत्रिकाएं या तो स्त्री-विमर्श के पन्ने खोलती रहीं या दलित विमर्श के या फिर प्रयोगों और विवादों में उलझी रहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि विमर्श से धीरे-धीरे वर्ग गायब होता गया और एक वैज्ञानिक अवधारणा सिकुड़ती चली गयी। वर्ग की जगह वर्ण ने ले लिया जहां दलितों को उनका अधिकार वापस दिलाने के लिए कई पत्रिकाओं ने बड़े-बड़े सम्मेलन तक किए तथा अपनी पत्रिकाओं के कई विशेषांक भी निकाले। यानी प्राथमिकताएं बदलती गयीं। नारी विमर्श में भी स्त्रियों की

लड़ाई की धारा बदल दी गयी। उन्मुक्त जीवन शैली और भोगवादी दर्शन विमर्श का मुख्य हिस्सा हो गया और खदानों, कारखानों तथा खेतों में काम करनेवाली औरतें हाशिए पर चली गयीं। और फिर औरतों का सहचरी रूप हमें बार–बार अपनी ओर खींचने लगा तथा सामाजिक परिवर्तनों की लड़ाई लड़ती औरतें, क्रांतिकारियों के दल में शामिल होकर अपना जीवन दांव पर लगाती औरतें, ईंट भट्ठे पर धूलित होती औरतें, खेतों और खदानों में पसीना बहाती औरतें हमारे आकर्षण का केन्द्र नहीं रहीं। क्या सचमुच ऐसी औरतें हमारी कहानियों में आने की हकदार नहीं थीं ?

आप देखें तो पिछले दो दशकों में किसी भी छोटी या बड़ी पत्रिका ने वर्ग की समस्या या फिर भूमि समस्या को लेकर कोई कहानी विशेषांक नहीं निकाला और न ही गम्भीर बहसें ही चलायीं। नतीजा यह हुआ कि उस दौर के सारे कथाकार धीरे–धीरे हाशिए पर ठिलते गये। बाद की पीढ़ियाँ उन्हें धीरे–धीरे भूलती गयीं और एक तरह से वे इतिहास की वस्तु हो गये। जिन कथाकारों ने एक क्रांतिकारी परिदृश्य खड़ा किया था और सोचा था कि वे इतिहास की एक धारा का निर्माण करने जा रहे हैं वे इस तरह अपने ही समाज में बहिष्कृत होते गये। आज जब विजेन्द्र अनिल, विजयकान्त, मोहन, इसराइल, मदनमोहन, सुरेश कांटक, नीरज सिंह का नाम आता है तो हमारे कई मित्र मुंह बिचका लेते हैं और इनके लेखन को रूमानियत का दर्जा दे डालते हैं। और इनकी कहानियों को इकहरे यथार्थ की कहानी कहना या अतिरेक की कहानी कहना तो आम बात है। जबकि ऐसा नहीं है कि ये समस्याएं खत्म हो गयी हैं। सच्चाई यह है कि साहित्य में जब से उत्तर आधुनिकतावाद, संरचनावाद, जादुई यथार्थवाद जैसे शब्दों की शुरूआत हुई तभी से जनसंघर्षोन्मुख कहानियों को खारिज करने का एक सिलसिला चल पड़ा है। आज की पत्रिकाएं जायका बदलने के लिए या तो प्रेम विशेषांक निकालने लगी हैं या एक ऐसी पीढ़ी तैयार करने में लगी हैं जो यशप्रार्थी है। वह अपने जीवन दर्शन में पूरी तरह नौस्टैल्जिया का शिकार है जहां विभ्रम और यथार्थ का एक चमत्कारिक खेल खेला जा रहा है। दरअसल यह जीवन के यथार्थ से मुँह चुराने का एक खेल है जिसे बड़ी ही संजीदगी से साहित्य में परोसा जा रहा है। आप पिछले कुछ वर्षों की कहानियों पर विचार करें तो ऐसी कहानियाँ बहुतायत में मिलेंगी।... कितना बड़ा फासला दिखाई दे रहा है एक ओर विजेन्द्र